The Academic
International Journal of Multidisciplinary Research

An Online Peer Reviewed / Refereed Journal
Volume 2 | Issue 6 | May 2024
ISSN: 2583-973X (Online)
Website: www.theacademic.in

भारतीय संदर्भ में परम्पराओं की वर्तमान प्रासंगिकता

डॉ0 संजीव कुमार
प्राचार्य (कार्य0)
आदर्श महाविद्यालय, नवाबगंज (बरेली)

ARTICLE DETAILS

Research Paper

ABSTRACT

परम्परायें सामाजिक जीवन की ऐसी विरासत है जो कभी भी आप्रसंगिक नहीं हो सकती है। असन्तुलित, दिशाहीन, लक्ष्यहीन और आपाधापी वाली सामाजिक व्यवस्था में परम्परायें अनन्त सागर में चलते हुए जहाज के लिये प्रकाश स्तम्भ जैसी होती है। विज्ञान और तकनीक, संचार क्रान्ति के इस युग ने परिवर्तन को इतना तीव्र कर दिया है कि सम्भलना अत्यन्त दुरुह कार्य होता जा रहा है। मानवीय तृष्णा ने सम्पूर्ण जीवन को अन्तहीन दिशा की ओर मोड़ दिया है। ऐसे में सुखमय जीवन और परमार्थी क्रियाकलाप के लिये परम्पराओं की अति महत्वा है। मानवीय जीवन केवल भोग हेतु नहीं है अपितु प्रकृति का संरक्षण भी उसका दायित्व है ऐसे मंे परम्परायें उसके लिये सबसे बड़ी मार्गदर्शक हो सकती है। ऐसे में परम्पराओं की प्रासंगिकता सम्बन्धी लेख सभी के लिए अत्यन्त उपयोगी हो सकता है।

भारतीय समाज का इतिहास लगभग पाँच सहस्र वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। इस दौरान सामाजिक जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन के रूप में भारतीय समाज निर्माताओं

ने मानव की बौद्धिक क्षमताओं द्वारा केवल भौतिक जीवन से ही नहीं, अपितु आध्यात्मिक जीवन से भी सम्बद्ध अनेक संस्थाओं का निर्माण किया व एक स्वस्थ समाज व्यवस्था को जन्म देने का श्रेय प्राप्त किया। भारतीय धर्म, दर्शन, कला, अर्थव्यवस्था, वर्ण और आश्रम, संस्कार, पुरुषार्थ, जातिप्रथा, परिवार, विवाह ये और इसी प्रकार की कितनी ही अन्य संस्थाएँ हमारे सामाजिक इतिहास में महत्वपूर्ण प्रयोग कहे जा सकते हैं। यह प्रयोग वैदिक काल से ही आरम्भ होता है। वैदिक काल भारतीय आर्यों के इतिहास के उस युग को कहते हैं, जब वेदों की रचना की गई थी। वेदों की रचना अनुमानत ईसा से : 2500 से 500 वर्ष पूर्व तक में हुई थी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस समय अधिकांश विश्व का मानव बर्बरता के सघन अन्धकार में भ्रमण कर पाश्विक जीवन व्यतीत कर रहा था, उस समय भारतीय लोग सभ्यता व संस्कृति की ज्योति को जागृत कर प्रकाशमय प्राचल पथ पर बहुत आगे बढ़ चुके थे। जब अधिकांश विश्व का मानव अज्ञानता के अन्धकार में विलुप्त जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में भी अपनी शक्तियों को अपर्याप्त पा रहा था, उस समय भारत का साहित्य, कला, धर्म तथा दर्शन विकास की ओर निरन्तर बढ़ रहा था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भारतीय परम्परायें अत्यधिक प्राचीन एवं समृद्धशाली रही है। अपनी प्रारम्भिक अवस्था से लेकर हजारों वर्षों तक समाज को निरन्तरता एवं प्रगति इन्हीं परम्पराओं के सानिध्य में प्राप्त हुई। वर्तमान में इन्हीं परम्पराओं एवं विकास के बीच लोग अन्तर्विरोध को प्रबल तरीके से स्वीकार कर रहे हैं। परन्तु कुछ को उक्त बात स्वीकार नहीं है। अर्थात् कुछ लोगों का मत है कि विकास के बहाने परम्परा की अवहेलना करना उचित एवं सम्भव नहीं है। इन लोगों का कहना है कि संस्कृति एवं जातीय अस्मिता एक तरह परम्परा के पर्यायवाची बन गये हैं और वर्तमान समय में इसके लिए बड़ीबड़ी लड़ाइयाँ लड़ी जा रही हैं। राजनीतिक - स्वाधीनता आर्थिक विकास और सामाजिक समता की मंजिलें पार कर अनेक समुदाय अपनी नियति को सांस्कृतिक स्वायत्तता से जोड़ रहे हैं। इस पर विस्तृत चर्चा से पूर्ण परम्परा को समझना आवश्यक है श्परम्परा क्या है? इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्री प्रो० एस० सी० दुबे का कहना है कि ष्आज के सन्दर्भ में परम्परा एक मोहक शब्द है। साथ ही भ्रामक भी क्योंकि इसे मनचाहे अर्थ देकर

इसके गलतसही कितने ही प्र-कार के उपयोग किये जा सकते हैं। परन्तु वास्तव में परम्परा में 'ऐतिहासिक विरासत' जो एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती आयी है को शामिल किया जाता है। भारतीय संदर्भ में परम्परा का बोध उन सभी बातों से होता है जिनका उद्‌गम स्मृतियों, ऋषि मुनियों तथा नायकों द्‌वारा प्रदत्त ज्ञान से होता है। पीढ़ी पीढ़ी हस्तांतरित होते रहने से परम्पराओं में-दर-एक ऐसा मूल्य विकसित हो जाता है। जो समाज में एकता या संगठन बनाये रखने हेतु एक साधन के रूप में काम में आता है। परम्परा का प्रयोग हम चिन्तन एवं ज्ञान की शाखाओं, सामाजिक व्यवस्था, सामाजिक संरचना, सामाजिक मूल्य व्यवस्था, सामाजिक वैचारिकी, धर्म, सामाजिक संस्थाओं, सामाजिक मान्यताओं, मानवीय सम्बन्ध प्रतिमानों इत्यादि के लिए कर सकते हैं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से परम्परा का अर्थ ऐसी ऐतिहासिक वास्तविकता से लगाया जा सकता है, जो किसी समाज में समस्त चिन्तन एवं दर्शन के ऐतिहासिक क्रम में निरन्तर प्रवाहित होकर चली आ रही है। इस प्रकार सार)Essence के रूप में ('परम्परा' से तात्पर्य उन युगान्तर एवं संरक्षित प्रतीकों एवं विश्वासों तथा मूल्यों की व्यवस्थाओं, ज्ञान एवं दर्शन, अनुभव एवं चिन्तन की मौलिक धाराओं, स्थायी परिवर्तन के विरोधी एवं सामाजिक परिवर्तनों को आत्मसात् करने वाले आध्यात्मिक धाराओं, स्थायी परिवर्तन के विरोधी एवं सामाजिक परिवर्तनों को आत्मसात् करने वाले आध्यात्मिक तथ्यों से है, जो पीढ़ीपीढ़ी हस्तान्तरित -दर-होते चले जाते हैं तथा किसी समाज के सामूहिक प्रतीकों में अभिव्यक्त होते हैं। वास्तव में परम्परा तो अलग होते हैं। जो-है। लेकिन उसके व्याख्यान अलग मूलतः एक ही होती देश, काल एवं वैधानिक स्तर के अनुसार विभिन्नता रखते हैं। इस प्रकार परम्परा का अर्थ बहुकोणीय और काफी विस्तृत है। लेकिन परम्परा की लोक व्यापी स्वीकृति के बावजूद, कोई सर्वव्यापी व्याख्या नहीं है और यदि ऐसी कोई सार्वभौमिक परिभाषा देने का प्रयत्न किया जाये तो अनेक उलझनों में पड़ जायेंगे। परम्परा, रूढ़ियों एवं संस्कृति का भी पर्यायवाची नहीं है। अक्सर संस्कृति एवं परम्परा को एक ही अर्थ को ध्वनित करने के लिए कर लिया जाता है। संस्कृति अधिक व्यापक अवधारणा है। परम्परायें उसकी अपेक्षाकृत दीर्घजीवी धारायें और उपधारायें होती हैं। परम्परायें किसी भी संस्कृति की बनावट के लिए आवश्यक है। परन्तु

केवल उनसे ही पूरी संस्कृति को नहीं समझा जा सकता है। एक अर्थ में परम्परायें जातीय स्मृति का अंग होती हैं।

सामान्य रूप से माना जाता है कि परम्परायें, विकास में अवरोध उत्पन्न करती हैं। आधुनिक युग में जबकि समाज, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी द्वारा उत्पन्न विकास की आँधियों में बिना अवरोध के उड़ना पसंद कर रहा है। ऐसे में आवश्यक है कि विकास के आज के युग में परम्पराओं की प्रासंगिकता पर विमर्श कर लिया जाये। इससे इस बात की भी स्थिति स्पष्ट हो जायेगी कि क्या विकास के लिए परम्पराओं को त्यागना आवश्यक है।

पूर्व में ही बताया जा चुका है कि प्रसिद्ध समाजशास्त्री प्रो० एस० सी० दुबे का मानना है कि विकास का बहाना लेकर परम्परा का चाहे कितना ही विरोध क्यों न किया जाये, लेकिन परम्परा की अवहेलना करना न तो उचित है और न ही संभव। आज के वैचारिक पर्यावरण में परम्परा अथवा) को अवज्ञा सम्भव नहीं है। समस्त अन्तर्विरोधों के बावजूद परम्परा को मानव (जातीय भावना/संस्कृति रा से एकाएक अलग हो के सामूहिक अस्तित्व क अविभाजित अंग मानना ही होगा। वास्तव में परम्प जाना व्यक्ति के लिए आसानी सेे सम्भव नहीं होता है। व्यक्ति और उसके समुदाय को परम्परा से एक विशेष पहचान मिलती है। परम्परा से जातीय गरिमा)Ethnicityऔर अस्मिता के प्रश्न जुड़े हैं। (यों में ऐतिहासिक लक्ष्यों व भावनात्मक धरातल पर यह इतना संवेदनशील विषय है कि विशेष स्थिति तर्कों को भी स्वीकार नहीं किया जाता। वास्तव में परम्परायें हर समाज और उसके भिन्न समुदायों और समूहों की आत्म छवि का अविभाज्य अंग होती है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उनका दिशा-क नहीं होत बल्कि उनसे महत्वपूर्ण प्रकार्य जुड़ेनिर्देश करती है। परम्पराओं का मूल्य मात्र प्रतीकात्म होते हैं। वे समाज के समाकलन में सहायक होती है और उसे आस्था का आधार देकर जीवन के लक्ष्य और मूल्य निर्धारित करती है। समाज का अस्तित्व परम्पराओं के बिना नहीं हो सकता अथवा कहा जा सकता है। प्रत्येक समाज परम्परायुक्त होता है और कोई भी समाज पूर्णतया परम्पराओं से कटा हुआ नहीं होता है। परम्परायें समाज में सामाजिक जीवन को निरन्तरता प्रदान करती है। और सामाजिक

जीवन का स्वरूप निर्धारित करती है। जब भी किसी समाज में परम्परायें तेजी से विश्रृंखलित होती है। तो समाज की जातीय अस्मिता का ह्रास होने लगता है और धीरेधीरे स्थिति- इतनी बिगड़ जाती है कि समाज अपनी आहटें सुनने में असमर्थ हो जाता है। विज्ञान एवं तकनीक की आँधियों ने कई समाजों को नयी गति और दिशा देकर उनके ढाँचे को ही बदल दिया, किन्तु विवेक और विचार के क्षणों में ये समाज भी ये सोचते हैं कि उन्होंने क्या गलत किया, क्या खोया और क्या पाया? और उनके इस आंकलन का पैमाना परम्परायें ही होती हैं? जड़ों की तलाश उन्हें एक बार फिर परम्परा की ओर आकर्षित करती है। आधुनिकता का सम्मोहन समाज को पूरी तरह परम्परा मुक्त नहीं कर पाता है। परम्परा का अंश उनमें जीवित रहता है और अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बनाये रखने के लिए वे प्रयत्नपूर्वक अपनी परम्परा के कुछ पक्ष को पुष्ट और सुदृढ़ करते हैं। उदाहरण के लिए, आधुनिकता के भेष में परम्पराओं की अभिव्यक्ति को वर्तमान में भारतीय समाज की विभिन्न अवस्थाओं एवं कार्यक्रमों विवाह), राजनीतिक चुनाव आदि में :स्पष्टत (अवलोकित किया जा सकता है।

ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि परम्परा समाज के विकास के मार्ग में बाधा उत्पन्न करती है एवं परम्परा एवं विकास एकदुबे इस सम्बन्ध में एक उदाहरण ०सी ०एस ०दूसरे के विरोधी हैं। प्रो- देते हैं। उनके अनुसार, "विकास के जिस स्तर को पाने के लिए पश्चिमी यूरोप और अमेरिका को प्रायः दो सौ वर्ष लगे थे, उसे तीसरी दुनिया के देश बीस वर्षों में ही पा लेना चाहते थे। उनकी इस असम्भव महत्वाकांक्षा को बढ़ावा दिया पश्चिम के विकास विशेषज्ञों ने। उनकी दृष्टि में परम्परा विकास के मार्ग में अवरोधक थी, उसे बदलना आवश्यक माना गया। संस्थात्मक ढाँचे और जीवनमूल्य दोनों में ही - परम्परा की तीव्र प्रतिक्रिया ने अनेक परिवर्तन करने की आवश्यकता को अनिवार्य बताया गया। स्थितियों में आर्थिक विकास की प्रक्रिया को तेज झटके दिये। विकास की विकृतियों ने शान्ति और सुरक्षा पर अनेक प्रश्न चिन्ह लगा दिये। विकास ने निर्णय किया कि उसे परम्परा का विरोधी नहीं होना है। बल्कि परम्पराओं की ताकत का इस्तेमाल विकास सम्बन्धी उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए करना है। इस तरह विकास के तीन लक्ष्य उत्पादन, व्यवस्था एवं संस्कृति का संरक्षण समान महत्त्व के

माने गये।" वर्तमान में भी समता के लिए अनेकों सामाजिक, आन्दोलन एवं संघर्ष यद्यपि कई स्थितियों में आवश्यक है परन्तु वे भी परम्पराओं की अवहेलना नहीं कर सकते। परन्तु ध्यान रहे कि यह आवश्यक नहीं कि समाज की सभी परम्पराओं को सदैव स्वीकार किया ही जाये। वास्तव में परम्परा कोई दैवीय निर्माण नहीं होती यह पूर्णतया सामाजिक निर्माण होती है और समाज अपनी आवश्यकतानुसार उसको स्वरूप प्रदान करता रहता है। आज का एकलव्य और समाज उस व्यवहार को सहन बिल्कुल नहीं करेगा जो मौलिक एकलव्य को सहन करना पड़ा होगा। नवीन संदर्भ में अस्पृश्यता अमानवीय है। नारी को आज न तो पूजा की आवश्यकता है और न ही प्रताड़ना की, वह तो समता चाहती है। असहमति, विद्रोह और सुधार की परम्पराओं ने न्याय की माँग उठाई। वे आंशिक रूप से सफल भी हुई, पर वास्तव में परम्परा को बदलना स्वयं एक महत्वपूर्ण परम्परा है।

परम्पराओं में अनेक परीक्षण व उपादेय तत्व होते हैं। अनुपयोगी मानकर इनका परित्याग करना एक सशक्त और ऊर्जावान संसाधन से अपने आपको विलग करना ही होगा। परम्परायें सदैव ही समय की चुनौतियों को स्वीकार करती है। समाज में प्रौद्योगिक परिवर्तन और आर्थिक विकास के साथ परम्पराओं का रूपान्तरण होता है। वास्तव में ऐसा कदापि सम्भव नहीं होता कि सामाजिक संरचना, मूल्यों, विश्वासों को पहले परिवर्तित किया जाये और फिर विकस के बारे में सोचा जाये। सत्य तो यह है कि किसी भी समाज पर बाहरी परम्परायें, मूल्य थोपे नहीं जा सकते, इसके लिए जो समाज की स्वीकृति और अन्तः प्रेरणा अति आवश्यक है। समय के साथसाथ इनमें आवश्यक परिवर्तन स्वयं ही हो - कभी असम्भव -नून से परम्पराओं को परिवर्तित करना अत्यंत कठिन या कभीजाते हैं। दबाव से या का भी होता है। भारतीय दहेज प्रथा इसका अति उत्तम उदाहरण है।

आज के युग में विकास और आधुनिकता आवश्यक है। परन्तु इनसे विसंगतियाँ एवं विकृतियाँ भी उत्पन्न होती हैं। मोटे रूप में इन प्रक्रियाओं से तीन प्रवृत्तियाँ सुदृढ़ होती हैं।)1) व्यक्ति केन्द्रिकता-)2) लोकतंत्रीकरण)3) पंथनिरपेक्षता रू व्यक्ति केन्द्रिकता भोगवाद बढ़ाती है। लोकतंत्रीकरण अनुशासन की संरचना को कमजोर करके अराजकता की स्थिति उत्पन्न करता है और पंथनिरपेक्षता प्रायरू पंथ

विमुखता बन जाती है। यद्यपि तीनों प्रवृत्तियों के लक्ष्य सही हैं। पर अनियंत्रित रूप से उनका अस्तित्व में रहना अनेक जटिल समस्याओं को जन्म देता है।

निःसन्देह परम्परा और विकास के अर्न्तसम्बन्ध समस्याग्रस्त है, पर उनमें से किसी को भी छोड़ा नहीं जा सकता। विकास आज की अनिवार्यता है। पर परम्परा में भी अदम्य जीवन शक्ति है जो अपने आपको विकास यात्रा के हर मोड़ पर प्रमाणित कर लेती है। जातीय भावना जिसकी जड़ें परम्परा में है, आज सारे विश्व में उत्कर्ष पर है। एक गणना के अनुसार दुनिया में चार सौ से अधिक जातीय- । वास्तव मेंभावना से प्रेरित आन्दोलन चल रहे हैं'एक ग्रह एक मानवता' का नारा आज का प्रचलित मुहावरा बन गया है। अस्तित्व के संकट का सामना करने के लिए समस्त मानव जाति का एकजुट होना जरूरी भी है। परन्तु इस समरसता का अर्थ परम्पराओं और संस्कृतियों की विविधता का ह्रास नहीं है। आवश्यक है परम्पराओं और संस्कृतियों के सहअस्तित्व का एक नया आधार। समान लक्ष्यों की - प्राप्ति के लिए मानव जाति अवश्य एक हो, परन्तु विश्वव्यापी सांस्कृतिक एकरूपता न जरूरी है और न ही सम्भव। अन्त में विकास एवं परम्परा के विरोधाभासों के बीच थियोडोर लेविट का कथन काफी महत्वपूर्ण है कि यदि हम विकास एवं परम्पराओं के बीच सन्तुलन कायम रखना है। तो "हमें वैश्वीय)Global तरीके से सोचना चाहिए परन्तु हमारे काम करने के तरीके स्थानीय यानि (देशी होने चाहिए।" लेविट का उपर्युक्त कथन विकास एवं परम्परा के बीच सन्तुलन बनाने एवं सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन में तनाव कम करके सामंजस्य स्थापित करने हेतु पर्याप्त है।

सन्दर्भ

1. Kane, P.V. (1962-1975) History of Dharmasastra (Ancient and Mediaeval religious and civil law), Poona; Bhandankar Oriental Research Institute.

2. Karve, Irawati (1965) Kinship Draganization in India, Asia Publishing House, Bombay.

3. Prabhu, P.H. (1979) Hindu, Social Orgazniation, The Popular Book Depot, Bombay.

4. देसाई, ए0आर0 (1966), "सोशल बैक ग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म", बॉम्बेपॉपुलर : प्रकाशन।

5. शर्मा, के0एल0 (2010) "भारतीय सामाजिक संरचना एवं परिवर्तन", रावत पब्लिकेशन, जयपुर।

6. सिंह, योगेन्द्र)1973) मॉडनाईजेशन ऑफ इण्डियन टे³डिशन, फरीदाबादथॉम्बसन प्रेस इण्डिया : लिमिटेड।

7. सिंह, जे0पी0 (2009) समाजविज्ञान विश्वकोष, पी0एच0आई0 लर्निंग, दिल्ली।

8. सिंह, रामधारी 'दिनकर' (2008) संस्कृति के चार अध्याय, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

9. दुबे, श्यामाचरण)2002) भारतीय समाज, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया नई दिल्ली।

10. श्री निवास, एम0एन0 (1966) सोशल चेंज इन मॉडर्न इण्डिया वर्कलेकैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी : प्रेस।